

होली नव सस्येष्टियज्ञ वेला

- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

पर्वों का फसलोत्पादन के साथ गहरा सम्बन्ध है। प्रकृति में परिवर्तन का अपनी प्रवृत्ति है और जिस तरह वह बदलती है, प्रकृति के सहचर मानव समाज ने उसको आत्मसात किया है। प्राचीनकाल में मनुष्य ने नक्षत्रादि की गणनाओं के आधार पर प्राकृतिक परिवर्तन को जाना है क्योंकि इसी आधार पर पूर्णिमाओं और उसके मासों का नामकरण भी मिलता है। चातुर्थमास यज्ञ की परम्परा में आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन— इन चार—चार महीनों की पूर्णिमाओं पर होने वाले यज्ञों का विधान किया गया है— फाल्गुन्या पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुंजीत मुखं वा एतत् सम्बत् सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी आषाढी पौर्णमासी। कालिदास ने ऋतुसंहार में मंजरियों के वाण पर भौरों की कतारों की डोरी चढ़ाकर आने वाले जिस वसंत का वर्णन किया है, वह कालान्तर में ऋतुपरिवर्तन को देखने का एक रूपक है— वसन्तयोद्वा समुपागतः प्रिये।

इसी प्रकार गृहसूत्रों में शरद-वासंती अथवा चैत्रीय नव सस्येष्टि यज्ञ की परम्पराओं का संकेत मिलता है। यह वैदिक और उत्तरवैदिक समाज में रही है जिनका दक्षिण एशियाई समुदाय बहुत ऋणि रहा है। यही नवधान्येष्टि यज्ञ और कातीयगृहकारिका में नवप्राशन भी कहा जाता है। इन मान्यताओं के अनुसार होली वसन्त की वेला में नवीन धान्य से किए जाने वाला यज्ञ है। यह अवधि प्रकृति के फलने-फूलने और नवीन धान्य उत्पादित करने की रही है। यज्ञ की परम्परा चूंक धान्य से जुड़ी रही है, ऐसे में यह पर्व अपने मूल रूप में उत्पादन के अंश के अग्निमुख में अर्पित करने का अवसर होता है। इसके बाद स्वयं ग्रहण किया जाता है। अग्निदेव पितरों को समर्पित करते हैं— अग्निवे देवानां मुखम्। जो धान्यादि शाकत्य रूप में अग्नि में डाला जाता है, वह सूक्ष्म होकर पितरों को प्राप्त होता है, यह यज्ञ की परिपाटी और ध्येय है।

कातीय गृहकारिका के उत्तरभाग में नवप्राशन का जो वर्णन आया है कि वह बताता है कि किसी पुण्य दिवस पर शरद-वसंत कर्म करना चाहिए। इसके लिए हालांकि कोई काल का नियम नहीं दिया है लेकिन यह सिद्ध करता है कि इसके लिए आचार्य या बड़े-बूढ़ों की आज्ञा ही अनुकरणीय है। इसका आशय यह भी कि परम्परा सम्मत दिवसादि ग्रहण किए जा सकते हैं तथापि शुक्लपक्ष और रिक्ता तिथियों को छोड़कर पूषा, आदिति, हस्त, ब्राह्म, उत्तरा, श्रवण

